प्रसन्न कुमार चौधरी

साहित्य और विचारधारा

साहित्य मनुष्य के चेतन अस्तित्व के प्रश्नों से कमोबेश उसकी समग्रता में साक्षात करता है। वह उसके समग्र चेतन अस्तित्व का आईना है। फलतः मनुष्य के चेतन अस्तित्व के उपादान साहित्य के भी उपादान हैं।

हमारे चेतन अस्तित्व का पहला उपादान है **अज्ञात**। हर समय, हर जगह वह हमारे आसपास होता है, किन्तु हम उसे पकड़ नहीं पाते। वह हमारी अनुभूति में तो आता है, किन्तु हम उसकी शिनाख्त नहीं कर पाते।

हमारे अस्तित्व का एक अच्छा-खासा अंश हमारे अन्दर मौजूद जीन्स (Genes) द्वारा निर्धारित होता है। हम अपने अन्दर तीन अरब शब्दों वाले जेनेटिक कोड के वाहक हैं। हमारे चिन्तन और व्यवहार में यह कोड हमेशा अभिव्यक्ति पाता है, लेकिन कैसे और किस रूप में यह हम नहीं जानते। हमारी अपनी कृति भी पूरी तरह अपनी नहीं लगती। हमें अपनी अपूर्णता का बोध घेरे रहता है। अपने आप से पराएपन की अनुभूति होती है। अभाव का यह अहसास, अज्ञात द्वारा आत्म विस्थापन, हमारे चेतन अस्तित्व का एक स्थाई कारक है।

रचनाकार अपनी कृति में अपने अज्ञात का साक्षात्कार करता है। रचना में अज्ञात की अभिव्यक्ति के कारण उसे अपनी कृति अपनी नहीं लगती। इस तरह कृति कृतिकार को विस्थापित कर अपनी स्वायत्तता हासिल कर लेती है। बहरहाल, साहित्य में अज्ञात की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में सामने आती है। कभी-कभी यह अज्ञात, पात्र के रूप में मूर्त रूप ग्रहण कर लेता है— रचनाकार से पृथक

और उसे भी वश में कर लेने वाला पात्र। वह रचनाकार की कृति नहीं, खुद रचनाकार उसकी कृति लगने लगता है। तुलसी के राम या राम के तुलसीदास? राम तो 'अतर्क्य बुद्धि मन ग्याना' हैं, फिर तुलसीदास रामचरित कैसे बखान सकते? यह तो राम ही हैं जो उनसे यह सब करा रहे हैं। उसी तरह व्यास के कृष्ण या कृष्ण के व्यास? मूर्त और अमूर्त का, कृति और कृतिकार का एक-दूसरे में रूपांतरण साहित्य में अज्ञात की उपस्थिति का प्रमाण है।

साहित्य में अज्ञात की अभिव्यक्ति का एक और रूप हम जेम्स जॉयस की 'यूलीसिस' के अन्तिम सौ-सवा सौ पन्नों में पाते हैं। खैर, हर लेखक इस अज्ञात का अपने ढंग से अनुभव करता है, और इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति का रूप भी भिन्न-भिन्न होता है।

मनुष्य के चेतन अस्तित्व का दूसरा उपादान है **कल्पना**। कल्पना यथार्थ का विस्थापन नहीं है, वह (गणित की जटिल संख्या की तरह) हमारे जटिल अस्तित्व का अभिन्न हिस्सा है— हमारी इच्छा से स्वतंत्र एक सच्चाई। यथार्थ की क्षैतिज रेखा को काटती हुई इस काल्पनिक उर्ध्व रेखा के बिना मनुष्य की आकृति अधूरी रह जाती है। यथार्थ और कल्पना/फंतासी के मेल से ही मनुष्य सृष्टि में अपनी स्थिति की तलाश करता है— अपनी कमोबेश परिपूर्ण छवि गढ़ने की कोशिश करता है। साहित्य मानव अस्तित्व के इसी √-1 का निरूपण हैं।

यथार्थ चेतन-अस्तित्व का तीसरा उपादान है। वह मनुष्य के जीविकोपार्जन और पुनरुत्पादन का, और इस प्रक्रिया में मनुष्य द्वारा प्रकृति के साथ और आपस में स्थापित सम्बन्ध का क्षेत्र है। यथार्थ में मनुष्य का भौतिक अस्तित्व और सामाजिक जीवन है, रोजमर्रा के संघर्ष और समझौते हैं, विचारधाराएं और शासन पद्धतियाँ हैं, रीति-रिवाज हैं, कुण्ठाएं हैं, हार है, जीत है, नायक और खलनायक हैं।

प्रसन्न कुमार चौधरी

प्रखर युवा कवि-लेखक। 'वागर्थ'-4 में प्रकाशित अविस्मरणीय लंबी कविता 'सृष्टि-चक्र' के रचयिता। वर्षों कम्युनिस्ट आन्दोलन में सक्रिय। 'बिहार में सामाजिक आंदोलन के कुछ आयाम 1912-1930' पुस्तक प्रेस में। सामाजिक, आर्थिक तत्त्व शास्त्रीय विषयों पर लेखन। संपर्क : शांति निवास, बम्पास टाउन, देवघर- 814114 (बिहार)

यह मनुष्य के कर्म का क्षेत्र है जहाँ हमारी स्वतंत्रता है, दासता है, उत्पीड़न और संघर्ष है, प्रेम और घृणा है, पक्ष और विपक्ष है, हमारा अपना बनाने और बिगाड़ने का खेल है, जन्मना और मरना है। यह यथार्थ साहित्य का आधारभूमि है।

चेतन-अस्तित्व का चौथा उपादान है **एकत्व-बोध**। इसके बिना मनुष्य के अस्तित्व को उसकी समग्रता में पकड़ना ही सम्भव नहीं। सृष्टि के साथ अपने एकत्व की तार्किक समझ हासिल करने के बावजूद यह बोध अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग समय और तरीके से आता है। यह मानव-चेतना की एक विशिष्ट पहचान है। यथार्थ अगर साहित्य की आधारभूमि है, तो एकत्व-बोध साहित्य की अपरिहार्य मांग।

हमारे चेतन-अस्तित्व के ये चारों कारक— **अज्ञात, कल्पना, यथार्थ और एकत्व-बोध** अलग-थलग नहीं रहते। वे एक दूसरे से घुले मिले होते हैं और अस्तित्व की प्रक्रिया में उनका एक-दूसरे में निरन्तर रूपान्तरण होता रहता है। इस अन्तः क्रिया में ही मनुष्य का चेतन-अस्तित्व आकार ग्रहण करता है।

साहित्य सचेत अस्तित्व के इन चारों कारकों

की जटिल अन्त:क्रिया का निरूपण है। साहित्य में रचनाकार अपनी तमाम व्यक्तिगत विशिष्टताओं के बावजूद, और उनके साथ, सचेत अस्तित्व को पुन: सृजित करने की कोशिश करता है और इसी कोशिश के परिणामस्वरूप कालजयी कृतियाँ सामने आती हैं। सृजन की यह बेचैनी हर रचनाकार में मौजूद रहती है। 'But cannot I create?/ Cannot I form? Cannot I fashion forth/ Another world, another universe,/ To overbear and crumble this to naught?/ Where is another chaos? where?,'[1]

सचेत अस्तित्व का कमोबेश उसकी सम्पूर्णता में पुन: सृजित करने की इसी कोशिश के कारण अनेक कालजयी कृतियों में अनेक समानताएं मिलती हैं, लेकिन 'न तो यह प्रतिबिम्ब सादृश्य है और न ही चित्राकार तुल्य', बल्कि यह 'तुल्य देहिवत्' है, क्योंकि 'एक देहधारी दूसरे देहधारी के समान होने पर भी एक (अभिन्न) ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।[2] इसी सादृश्य की चर्चा करते हुए शेली ने 'प्रोमेथ्यू अनबाउण्ड' की भूमिका में लिखा था, '.... As to imitation, poetry is a mimetic art. It creates, but it creates by combination and representation..... There is a similarity between Homer and Hesiod, between Aeschylus and Euripides, between Virgil and Horace, between Dante and Petrarch, between Shakespeare and Fletcher. between Dryden and Pope; each has a generic resemblance under which their specific distinctions are arranged. If this similarity be the result of imitation, I am willing to confess that I have imitated....'[3]

सामान्यत: जिसे लोकप्रिय साहित्य अथवा 'पॉप लिटरेचर' कहते हैं, वह साहित्य की मुख्यधारा नहीं होता। साहित्य की मुख्यधारा कालजयी कृतियां होती हैं, जिनकी संख्या किसी भी भाषा में अपेक्षाकृत कम ही होती हैं। ये कृतियां हर युग में पढ़ी जाती हैं और हर वर्ग के पाठक इन कृतियों में न जाने कितने अर्थ ढूंढ लेते हैं। मनुष्य के चेतन अस्तित्व को उसकी समग्रता में पुन: सृजित करने की कोशिश ही इन कृतियों में अर्थ की अनन्तता का स्रोत हैं।[4]

कुल मिलाकर, साहित्य के केन्द्र में **अनुभूति, स्वीकृति** और **संस्कार** होता है।

एक रचनाकार के जेहन में तरह-तरह की अनुभूतियां जमा होती रहती हैं। अनुभूतियों का यह 'ब्लैक होल' (घनीभूत अनुभूतियाँ) ही रचना के 'बिग बैंग' में पुनरुत्पादित होती हैं। रचनाकार कृष्ण विवर और महाविस्फोट के संधिस्थल पर खड़ा होता है— 'श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये।'[5] 'एक हाथ अपनी कब्र पर और दूसरा अपने पालने पर।'[6]

साहित्य में **स्वीकृति** कोई निष्क्रिय श्रेणी नहीं है। अव्वल तो इसलिए कि साहित्य संस्कारित किए बिना कुछ भी स्वीकार नहीं करता। दूसरे, अस्तित्व के विभिन्न रूप खुद जड़ श्रेणियां नहीं, बल्कि गतिमान श्रेणियां हैं। इसलिए साहित्य में यह गत्यात्मक स्वीकृति विभिन्न अस्तित्व-रूपों की अपनी दिक्-काल सीमाओं में स्वीकृति है। यही कारण है कि साहित्य अपने स्वभाव से ही वर्चस्व-वृत्ति के विरुद्ध रहा है— स्तरीकरण के खिलाफ सतत संघर्षरत। वर्चस्व और उत्पीड़न की ताकतें साहित्य को हमेशा विध्वंसक कार्य मानती रही हैं। प्राय: सभी कालजयी कृतियों को किसी-न-किसी समय ऐसी ताकतों की

1. जॉन कीट्स, 'हाइपरियन, ए फ्रैगमण्ट, बुक 1
2. आनन्दवर्धन, 'ध्वन्यालोक' चतुर्थ उद्योत, ।। 13 ।।
3. पर्सी ब्राइशे शैली, 'प्रोमेथ्यू अनबाउण्ड' प्रीफेस
4. आनन्दवर्धन, वही
5. छांदोग्य, 8/13/1
6. ज्याँ पाल सार्त्र, 'शब्द' फ्रायड की भाषा में 'इरोटिक' और 'डेथ इंस्टिंक्ट' के संधि-स्थल पर

उपेक्षा, उत्पीड़न और प्रतिबन्ध का सामना करना पड़ा है और साहित्यकारों को निर्वासन, जेल अथवा तंगहाली की सजा भुगतनी पड़ी है। किसी समाज में साहित्यकारों की संख्या हस्बमामूल ही होती है, फिर भी प्रति हजार साहित्यकारों में ऐसे उपेक्षा-उत्पीड़न के शिकार साहित्यकारों की अगर संख्या निकाली जाए तो वह अन्य किसी भी समुदाय में ऐसे लोगों के प्रतिशत से शायद अधिक ही होगी।

साहित्य की रचना शून्य में नहीं होती। किसी रचनाकार को **संस्कार** या विरासत में साहित्य की एक परम्परा मिलती है। हर काल के साहित्य का अपने पूर्ववर्ती साहित्य के साथ 'ॲपरेंटेशन-एण्ड-ॲफिलिएशन'[1] का एक रिश्ता होता है। फिर अपने देश में एक खास परम्परा भी रही है। यहाँ हर कुछ सौ वर्षों के अन्तराल पर चिन्तकों ने सार-संकलन का काम किया है, ताकि जीवन के प्रति अपेक्षाकृत एक सामग्रिक दृष्टि अपनाई जा सके। ऋग्वेद भी इस तरह का एक सार-संकलन था, उपनिषद, जैन और बौद्ध साहित्य भी, गीता भी, संगम साहित्य और कश्मीर का त्रिक दर्शन भी, मध्यकाल का संत साहित्य और आदि ग्रंथ भी.... प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सार-संकलन की यह क्रिया आज तक जारी है।

साहित्य की रचना भाषा में ही होती है और भाषा का व्याकरण, शब्द-संयोजन/ वाक्य-विन्यास के नियम, अभिव्यक्ति का साहित्यिक शिल्प हमें विरासत में मिलता है। रचनाकार के लिए साहित्य के इस प्रविधि-पक्ष की जानकारी भी अत्यंत जरूरी है, हालांकि इसके साथ उसका दुहरा रिश्ता होता है। वह इनका प्रयोग करता है, साथ ही अपनी अभिव्यक्ति की विशिष्ट जरूरतों के अनुरूप उन्हें तोड़ता भी है— हालंकि यह तोड़ना निरपेक्ष नहीं होता। कुल मिलाकर इससे साहित्य का शिल्प समृद्ध ही होता है।

और अन्त में, रचना कोई व्यक्ति करता है— यथार्थ जगत में रोजमर्रा की जद्दोजहद में शामिल व्यक्ति। उसकी अपनी समस्याएं होती हैं, अपना बचपन होता है, अपनी गृहस्थी होती, अपने द्वन्द्व होते हैं, विरासत में मिला अपना परिवेश और उस परिवेश का दबाव होता है। वह अपने आसपास ही सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों और उनके प्रभावों के बीच जीता है। साथ ही, उसकी भी सीखने की अपनी निहायत निजी प्रक्रिया होती है— अपने चेतन अस्तित्व को अपने जीवनानुभवों के जरिए पहचानने की प्रक्रिया। परिपक्वता आखिरकार एक प्रक्रिया ही है जो अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग ढंग से अंजाम पाती है।

क्षण में जीने वाला यह व्यक्ति अपनी रचना में क्षण से क्षण भर को मुक्ति पाता है, परन्तु उसके क्षण की छाप किसी-न-किसी रूप में उसकी रचना में मौजूद रहती है। क्षण की व्यावहारिक मांग और रचना में मुक्ति की चाह के बीच का द्वन्द्व जीवनपर्यन्त चलता रहता है। जीवन को उसकी सम्पूर्णता में पकड़ने की प्रक्रिया में क्षण के झमेले बाधक लगते हैं, और क्षण की जरूरी जिन्दगी को उपर्युक्त पूरी कोशिश ही बकवास लगती है। जीवन जीना जीवन को बांचने से ज्यादा जरूरी जान पड़ता है और जीवन बांचना हो तो अपना जीवन शत्रु-सरीखा लगता है। ('टु दि लाइटहाउस' उपन्यास में मिसेज रेमसे के बारे में कही गई यह पंक्ति— 'लाइफ हर ओल्ड एण्टागोनिस्ट'— खुद वर्जीनिया वुल्फ के अपने तनावों का सार है, एक आत्म-स्वीकारोक्ति) इस तनाव में कई रचनाकारों की या तो रचनात्मक शक्ति ही खो जाती है, या कभी-कभी वे आत्महत्या भी कर बैठते हैं।

1. Apparentation and Affiliation 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री' में ॲर्नाल्ड जे. टॉयनबी द्वारा सभ्यताओं के बीच संबंध की बावत प्रयुक्त शब्दावली
2. Chrysalis यह शब्द भी 'टॉयनबी' से सभार

विचारधारा या तो सम्पूर्ण यथार्थ के अथवा उसके विभिन्न पहलुओं के नियमों का पता लगाने, फिर उन नियमों के आधार पर यथार्थ को रूपान्तरित करने पर जोर देती है। वह यथार्थ की जमीन पर पनपती है, किन्तु कालक्रम में वह यथार्थ को स्थापित कर खुद एक भौतिक शक्ति बन जाती है। ऐसी स्थिति में यथार्थ भी यथार्थ नहीं रहता—वह विचारधारा का सेवक मात्र हो जाता है। विचारधारा के लिए वही यथार्थ जरूरी रह जाता है, जो उसे संपुष्ट करता हो।

जहां साहित्य का केन्द्र अनुभूति, स्वीकृति और संस्कार है, वहीं विचारधारा का केन्द्र नियम, नकार और निष्कासन है। जो भी चीज उसके नियम से मेल नहीं खाती अथवा उसके नियम से टकराती है, उसे नकार दिया जाता है और यथार्थ की दुनिया से उसके निष्कासन की मुहिम छेड़ दी जाती है। वह यथार्थ पर अपना एकछत्र प्रभुत्व चाहता है। इस तरह वर्चस्व-वृत्ति हर विचारधारा में अन्तर्निहित होती है, हालांकि यही उसके पतन का कारण भी बनती है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, साहित्य चेतन अस्तित्व को उसकी समग्रता में व्यक्त करने का प्रयास है— हालांकि कुछेक कालजयी रचनाओं में ही यह समग्रता कमोबेश साकार रूप ले पाती है, आमतौर पर लिखे जानेवाले साहित्य में हम अस्तित्व के कुछेक आयामों की ही अभिव्यक्ति पाते हैं— यही स्वाभाविक भी है। साहित्य रचना भी एक प्रक्रिया है। एक लेखक भी प्राय: अपने किसी आदर्श लेखक के अनुसरण से अपनी रचना शुरू करता है। जैसे कोई गायक अपने किसी आदर्श गायक का अनुकरण करते-करते धीरे-धीरे विधा पर, उसके शिल्प पर अपनी पकड़ बनाने लगता है और अपनी आवाज पा जाता है, उसी तरह लेखक भी क्रमश: भावाभिव्यक्ति के अपने शब्द और शिल्प पा जाता है।

जीवनानुभवों की एक प्रक्रिया भी जरूरी होती है। बहरहाल, प्रत्येक रचनाकार का विकास अलग-अलग ढंग से होता है और उसकी टेक्स्टबुक प्रक्रिया नहीं है। कुल मिलाकर, समाज में आमतौर पर प्रचलित साहित्य रचना-प्रक्रिया-में-साहित्य (लिटरेचर-इन-द-मेकिंग)है, और उससे एक साहित्यिक परिवेश का निर्माण होता है।

चेतन अस्तित्व को कमोबेश उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करना कोई जरूरी नहीं कि भारी-भरकम ग्रंथ में ही संभव हो। मेरी नजर में इसकी अभिव्यक्ति का सबसे संक्षिप्त रूप हमें ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में मिलता है और इसका वृहत्तम रूप 'महाभारत' में।

साहित्य की स्थिति का जायजा लेने के बाद अब थोड़ी चर्चा विचारधारा पर। हालांकि साहित्य की स्थिति जान लेने से साहित्य और विचारधारा के बीच अन्तरसंबन्ध की स्थितियां स्वयं काफी स्पष्ट हो जाती हैं।

विचारधारा या तो सम्पूर्ण यथार्थ के अथवा उसके विभिन्न पहलुओं के नियमों का पता लगाने, फिर उन नियमों के आधार पर यथार्थ को रूपान्तरित करने पर जोर देती है। वह यथार्थ की जमीन पर पनपती है, किन्तु कालक्रम में वह यथार्थ को स्थापित कर खुद एक भौतिक शक्ति बन जाती है। ऐसी स्थिति में यथार्थ भी यथार्थ नहीं रहता—वह विचारधारा का सेवक मात्र हो जाता है। विचारधारा

के लिए वही यथार्थ जरूरी रह जाता है, जो उसे संपुष्ट करता हो।

जहां साहित्य का केन्द्र अनुभूति, स्वीकृति और संस्कार है, वहीं विचारधारा का केन्द्र नियम, नकार और निष्कासन है। जो भी चीज उसके नियम से मेल नहीं खाती अथवा उसके नियम से टकराती है, उसे नकार दिया जाता है और यथार्थ की दुनिया से उसके निष्कासन की मुहिम छेड़ दी जाती है। वह यथार्थ पर अपना एकछत्र प्रभुत्व चाहता है। इस तरह वर्चस्व-वृत्ति हर विचारधारा में अन्तर्निहित होती है, हालांकि यही उसके पतन का कारण भी बनती है।

दरअसल हर अस्तित्व की अपनी एक गमता होती है, जो उस अस्तित्व-रूप की दिक्-काल सत्ता समाप्त होने के बाद भी कुछ समय तक बनी रहती है। यही गमता वर्चस्व-वृत्ति है। अपनी उम्र से अधिक जीने की यही लालसा उसे अन्य अस्तित्व-रूपों पर वर्चस्व की ओर ले जाती है। मनुष्य के अस्तित्व की समग्रता के लिहाज से विचारधाराओं की निश्चय ही अपनी एक भूमिका है। नियम हैं, और नियमों की जानकारी और उनका कार्यान्वयन यथार्थ को रूपान्तरित करने में कामयाब भी होता है। चूँकि यथार्थ के अनेक आयाम हैं, इसलिए समाज में एक ही समय अनेक विचारधाराएं क्रियाशील रहती हैं।

साहित्य में, उसकी कालजयी कृतियों में हम इस तरह किसी एक नहीं, बल्कि कई विचारधाराओं का साक्षात् करते हैं— साहित्य उन्हें स्वीकार करता है, लेकिन साथ ही उन्हें उनकी सीमा भी बता देता है और उनका संस्कार करता है। साहित्य विचारधाराओं का गुच्छा लिए होता है— गेंदे की तरह फूलों का गुच्छा जहां परत-दर-परत हर फूल की अपनी जगह होती है।

सचेत अस्तित्व की अपेक्षाकृत सम्पूर्ण गाथा होने के कारण साहित्य विचारधारा समेत यथार्थ के सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है। साथ ही नए-नए वैचारिक आन्दोलनों को जज़्ब करने की प्रक्रिया में साहित्य भी समृद्ध होता रहा है। मार्क्स की रचनाओं से गुजरते हुए कोई भी उन पर आमतौर पर यूरोपीय और जर्मन साहित्य और खासकर गोएने का प्रभाव महसूस कर सकता है। रूसी सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों पर रूसी साहित्य के प्रभाव की बात तो जगजाहिर है, वैज्ञानिक मरे गेल-मन (Murray Gell-Mann) को अब तक ज्ञात सबसे सूक्ष्म कणों (जिनसे प्रोटोन का निर्माण होता है) का नामकरण करते वक्त जेम्स जॉयस का यह उद्धरण याद आया : 'थ्री क्वार्क्स फॉर मास्टर मार्क'; और उन्होंने उन कणों को नाम दिया क्वार्क।

जब कोई विचारधारा अभियानरत रहती है, तब अपनी अन्तर्निहित वर्चस्व-वृत्ति के कारण वह साहित्य को भी अपनी सेवा में लगाने का यत्न करती है। यही साहित्य और विचारधारा के बीच तनाव का कारण बनता है। बहरहाल, विचारधारा और साहित्य के अन्तरसंबन्ध अथवा प्रतिबद्ध साहित्य की बात को उसके खास ऐतिहासिक सन्दर्भ में समझना जरूरी होता है। मेरा मतलब प्रश्न की ऐतिहासिकता से है।

साहित्य में, उसकी कालजयी कृतियों में हम इस तरह किसी एक नहीं, बल्कि कई विचारधाराओं का साक्षात् करते हैं— साहित्य उन्हें स्वीकार करता है, लेकिन साथ ही उन्हें उनकी सीमा भी बता देता है और उनका संस्कार करता है। साहित्य विचारधाराओं का गुच्छा लिए होता है— गेंदे की तरह फूलों का गुच्छा जहां परत-दर-परत हर फूल की अपनी जगह होती है।

कृति और कृतिकार में एक फर्क होता है। रचनाकार एक खास सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक स्थितियों में जीता है। समाज में रहते हुए अपनी ठोस वस्तुगत स्थितियों के अनुरूप किसी विचारधारा अथवा पार्टी का अनुयायी हो सकता है। लेकिन अपनी कृति में, अस्तित्व को अपनी समग्रता में पकड़ने की कोशिश में, वह थोड़े समय के लिए अपनी वैचारिक-राजनीतिक प्रतिबद्धताओं से भी मुक्ति पा जाता है। वह इन विचारधाराओं और पार्टियों का जन्म और विकास ही नहीं, उनकी मृत्यु भी देख लेता है। अब भला अपनी मृत्यु का कौन साक्षात करना चाहेगा? फलतः प्रतिबद्ध-से-प्रतिबद्ध रचनाकार का भी अपनी विचारधारा के प्रवर्तकों और पार्टी-प्रतिष्ठान से द्वन्द्व खड़ा हो जाता है। यह मैक्सिम गोर्की और ब्रेख्त जैसे प्रतिबद्ध साहित्यकारों के जीवन-प्रसंगों में भी देखा जा सकता है और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ मुक्तिबोध के विमर्श में भी।

हिन्दीसाहित्य में विचारधारा और साहित्य के अन्तरसंबन्ध पर चर्चा की शुरूआत 1930 के दशक में हुई। विश्व साहित्य में यह प्रश्न और पहले उठ चुका था। वह एक खास ऐतिहासिक काल था। रूसी क्रांति हो चुकी थी, सोवियत संघ में हो रहे प्रयोगों पर दुनिया भर की निगाहें लगी थीं, विभिन्न देशों में उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन चल रहे थे, स्पेन में फ्रैंको की तानाशाही के खिलाफ (1936) देश-देश में अन्तर्राष्ट्रीय ब्रिगेड का गठन किया गया था और गणमान्य लेखक-कलाकार उसमें भाग ले रहे थे, इटली और जर्मनी में फासीवाद स्थापित हो चुका था और यूरोप में हिटलर का नाजीवाद आक्रामक मुहिम छेड़े हुए था, पूँजीवादी विश्व 1929-33 की महामंदी से उबरा भी नहीं था कि दूसरे विश्वयुद्ध की आहट सुनाई देने लगी थी। इसी पृष्ठभूमि में भारत के भी लेखक-कलाकार, समाजवाद और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के पक्ष में तथा फासीवाद के खिलाफ गोलबन्द हो रहे थे। यही वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि थी जिसमें समाजवादी विचारधारा और आन्दोलन के साथ रचनाकार और साहित्य के संबन्धों को लेकर बहस चली थी। इस आलेख में उस पूरे विमर्श का (जिसमें अख्तर हुसैन रायपुरी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचन्द, शिवदान सिंह चौहान, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, राहुल सांकृत्यायन, दिनकर जैसे प्रख्यात साहित्यकारों के साथ-साथ नेहरू समेत कई कांग्रेसी, सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट नेता भी शामिल थे।) लेखा-जोखा लेना संभव नहीं है। वैसे भी यह विषय एक पूरी पुस्तक का है। इसलिए इस छोटे लेख में (व्याख्याओं और उदाहरणों से बचते हुए) कुछ बातें स्पष्ट करने तक ही सीमित रहना उपयुक्त होगा।

कृति और कृतिकार में एक फर्क होता है। रचनाकार एक खास सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक स्थितियों में जीता है। समाज में रहते हुए अपनी ठोस वस्तुगत स्थितियों के अनुरूप किसी विचारधारा अथवा पार्टी का अनुयायी हो सकता है। लेकिन अपनी कृति में, अस्तित्व को अपनी समग्रता में पकड़ने की कोशिश में, वह थोड़े समय के लिए अपनी वैचारिक-राजनीतिक प्रतिबद्धताओं से भी मुक्ति पा जाता है। वह इन विचारधाराओं और पार्टियों का जन्म और विकास ही नहीं, उनकी मृत्यु भी देख लेता है। अब भला अपनी मृत्यु का कौन साक्षात

करना चाहेगा? फलतः प्रतिबद्ध-से-प्रतिबद्ध रचनाकार का भी अपनी विचारधारा के प्रवर्तकों और पार्टी-प्रतिष्ठान से द्वन्द्व खड़ा हो जाता है। यह द्वन्द्व हर स्थिति में और हर सरकार के लिए भले ही आत्महत्या, उपेक्षा-उत्पीड़न, जेल और निर्वासन का सबब न बने, पर यह रहता है अवश्य। यह मैक्सिम गोर्की और ब्रेख्त जैसे प्रतिबद्ध साहित्यकारों के जीवन-प्रसंगों में भी देखा जा सकता है और कम्युनिस्ट पार्टी के साथ मुक्तिबोध के विमर्श में भी। उदाहरणों की सूची इतनी लम्बी है कि इसका यहां जिक्र करना संभव नहीं। विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता की मांग क्रमशः विचारधारा की वाहक पार्टी और विचारधारा के प्रवर्तक-नेता के प्रति प्रतिबद्धता की मांग में बदल जाती है। प्रतिबद्धता की मांग को पूरा करने में असमर्थ होता लेखक अन्तरात्मा की शरण लेता है। लेकिन विचारधारा अन्तरात्मा को अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखती है, उसमें उसे षड्यंत्र और बगावत की आहट सुनाई देती है। विचारधारा और साहित्य का द्वन्द्व इन स्थितियों में प्रायः विचारधारा और अन्तरात्मा के बीच के द्वन्द्व के रूप में सामने आता है। प्रतिबद्धता किसके प्रति? विचारधारा के प्रति या फिर अन्तरात्मा के प्रति? रचनाकार विचारधारा की दीवार में अन्तरात्मा की खिड़की खोलने की कोशिश करता है।

यहाँ मुक्तिबोध का एक उद्धरण प्रासंगिक होगा, 'पक्षधरता का संबन्ध मनुष्य के विश्वबोध और सद्-असद्-विवेक बुद्धि अर्थात् अन्तरात्मा के विवेक से है.... किन्तु, अन्तरात्मा एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसका अर्थ है— मनुष्य की कानशैन्स, अर्थात् वह भावनापूर्ण सद् सदविवेक बुद्धि जो मनुष्य को बुरे कामों से रोकती है, और अच्छे कामों की ओर प्रवृत्त करती है.... मनुष्य के हृदय में एक विश्वबोध तैयार होता रहता है, उसमें मानव अस्तित्व का विश्लेषण और मानव-मूल्यों की स्थापना और उस स्थापना के लिए आकुलता की गति चलती रहती है। अतएव इन तीनों से मिलकर एक अन्तरात्मा तो अवश्य ही तैयार होती है, जो दिल में खटपट करती है। यह अन्तरात्मा— यह एक ढंग की पक्षधरता है। मनुष्य एक पक्षधर प्राणी है.... हिन्दी में इस समय काव्य में अन्तरात्मा अपने पूरे विश्वबोध और समग्रानुभूति को लेकर हलचल करती हुई-सी, उपस्थित हुई-सी, दिखाई नहीं देती। यह युग डिस्सोसिएशन्स का युग है। मूलतः, सृजन प्रक्रिया में, भाव-कल्पना-बुद्धि का योग होता है, साथ ही वह मानव-यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में होता है....' ('साहित्य में पक्षधरता, विश्वबोध और मानव मूल्य'(अगस्त-सितंबर1963)मुक्तिबोध रचनावली, खंड-5)

साहित्य और वैचारिक-राजनीतिक आन्दोलन के बीच कोई एकरेखीय रिश्ता नहीं है। यह जरूरी नहीं कि एक खास ऐतिहासिक स्थिति में एक तथाकथित अग्रणी विचारधारा का प्रवर्तक श्रेष्ठ साहित्यकार भी हो या फिर कोई श्रेष्ठ साहित्यकार अग्रणी विचारधारा का प्रवर्तक। साथ ही किसी को भी, इसलिए साहित्यकार को भी, कर्म चयन की स्वतंत्रता है। वह वैचारिक-राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेता है या नहीं, यह उसके निजी चयन के दायरे में आता है। समाज में अनेक कर्म हैं और हर कर्म का अपना महत्व है। अगर कोई कृषि कर्म अथवा वैज्ञानिक प्रयोग का कर्म चुनता है तो आप उससे यह प्रश्न नहीं कर सकते कि तुम खेती अथवा वैज्ञानिक प्रयोगों में अपना समय क्यों बर्बाद कर रहे हो, तुम्हें तो अमुक आन्दोलन में होना चाहिए था। आपको उसकी समीक्षा उसके चयन के दायरे में ही करनी चाहिए। कई निर्विवाद रूप से कालजयी रचनाओं के लेखक अपने समय के वैचारिक-राजनीतिक आन्दोलनों से अलग-थलग रहे, इससे उनकी कृति का महत्व कम नहीं हो जाता। इसी तरह किसी वैचारिक-राजनीतिक आन्दोलन में आगे बढ़कर काम करनेवाले बहुतेरे लोगों ने

कोई कालजयी रचना नहीं दी तो इससे उस आन्दोलन में उनका योगदान कम नहीं हो जाता। उनका मूल्यांकन भी वैचारिक-राजनीतिक आन्दोलन में उनकी गतिविधियों के आधार पर किया जाना चाहिए। विचारधाराएं/ पार्टियां आती-जाती रहती हैं, वे मनुष्य के अस्तित्व का एक हिस्सा हैं, अस्तित्व का पूरा स्पेस उनका नहीं है। हाँ,अस्तित्व का यह पूरा स्पेस साहित्य का विषय जरूर है। लेनिन ने टाल्स्टॉय का काल निर्धारित किया था— 1861 ई॰ से 1905, यानी रूस में भूदास प्रथा के उनमूलन से लेकर रूस के पहले क्रांतिकारी उभार के बीच का काल।उस ('लेव टॉल्स्टॉय एण्ड हिज इपोक', कलेक्टेड वर्क्स, 17, मास्को, 1977) काल के बाद एक शताब्दी गुजरने को है। इस बीच कितनी विचारधाराएं आईं-गईं, पार्टियां बनीं-बिगड़ीं, किन्तु टाल्स्टॉय का (उन्नीसवीं सदी का महान रूसी) साहित्य अपनी जगह कायम है।

साहित्य के केन्द्र में चूँकि अनुभूति है, इसलिए जब तक कोई घटना अनुभूति के स्तर पर नहीं उतरती, उस पर साहित्यिक कृति सामने नहीं आ सकती। साहित्यिक रचनाएं जबर्दस्ती न लिखवाई जा सकती हैं, न लिखी जा सकती हैं। योजना बनाकर नेहरू म्यूजियम या इंडियन हाउस में बैठकर, दस्तावेजों का संग्रह कर, सर्वे और साक्षात्कार को आधार बनाकर साहित्यिक कृति नहीं रची जा सकती। वे अपनी जगह जरूरी हैं, साहित्य रचना के लिहाज से भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन वे अनुभूति को विस्थापित कर साहित्य का आधार नहीं बन सकतीं। किसी घटना को लेकर जज़्बात हो सकते हैं, जुनून भी हो सकता है, कुछ तार्किक-बौद्धिक व्याख्याएं हो सकती हैं, लेकिन इन चीजों की उपस्थिति ही बताती है कि वह घटना अनुभूति का हिस्सा नहीं बनी है, ऐसी घटनाओं पर आलेख, रिपोर्ताज, विवरणात्मक-व्याख्यात्मक किताबें लिखी जा सकती हैं क्योंकि उनका आधार तर्क और बुद्धि है। ऐसी रचनाओं का भी निश्चय ही अपना महत्व है, लेकिन

समाज में अनेक कर्म हैं और हर कर्म का अपना महत्व है। अगर कोई कृषि कर्म अथवा वैज्ञानिक प्रयोग का कर्म चुनता है तो आप उससे यह प्रश्न नहीं कर सकते कि तुम खेती अथवा वैज्ञानिक प्रयोगों में अपना समय क्यों बर्बाद कर रहे हो, तुम्हें तो अमुक आन्दोलन में होना चाहिए था। आपको उसकी समीक्षा उसके चयन के दायरे में ही करनी चाहिए। कई निर्विवाद रूप से कालजयी रचनाओं के लेखक अपने समय के वैचारिक-राजनीतिक आन्दोलनों से अलग-थलग रहे, इससे उनकी कृति का महत्व कम नहीं हो जाता।

वे साहित्य का स्थान नहीं ले सकतीं। नेपोलियन के रूसी अभियान पर टाल्स्टॉय की कालजयी कृति 'युद्ध और शान्ति' उस घटना के करीब साठ साल बाद आई। समय के लिहाज से महान रूसी साहित्यकार पुश्किन या गोगोल उस घटना के ज्यादा करीब थे, टाल्स्टॉय का तब तो जन्म भी नहीं हुआ था, फिर भी पुश्किन ने नहीं टाल्स्टॉय ने उस अभियान पर यदि कालजयी कृति दी तो इसका कारण यह नहीं था कि पुश्किन कम बड़े साहित्यकार थे, कारण यह था कि तब तक वह अभियान रूसियों की अनुभूति का हिस्सा नहीं बना था। ऐसी बहुत-सी बड़ी-बड़ी घटनाएं हैं, हादसे हैं जो लोगों की अनुभूति के स्तर पर उतरने में समय लेते हैं। लोग हतप्रभ रहते हैं। समझ नहीं पाते आखिर ऐसा कैसे हो गया। तर्क और बुद्धि से, कुछ विचारधाराओं की मदद से ऐसी घटनाओं की कुछ व्याख्या तो कर देते हैं, लेकिन फिर भी मन पूरी तरह संतुष्ट नहीं होता। अनुभव और स्मृति के कुछ टुकड़ों से कुछेक कहानियाँ, कुछेक कविताएँ तो बन जाती हैं, लेकिन उस पूरी घटना को अपनी सम्पूर्णता में पकड़ पाना संभव नहीं हो पाता। साहित्य अपना

अपने कमरे में बन्द वैज्ञानिक उपकरणों से घिरा, परिवार तथा समाज से बस औपचारिक रूप से जुड़ा अथवा न भी जुड़ा, अपने कम्प्यूटर पर अपने वर्चुअल विश्व में रमण करता, वर्चुअल शॉपिंग करता, वर्चुअल प्रेम और मौज-मस्ती करता व्यक्ति क्या सचमुच यथार्थ मनुष्य रह गया है? या वह भी वर्चुअल मनुष्य बन गया है?

समय लेता है।

सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों तथा शिक्षा और अवसर के प्रसार के कारण समाज के दलित-उत्पीड़ित समुदायों, वर्गों और तबकों के लोग आज अपेक्षाकृत अधिक संख्या में साहित्य-रचना के क्षेत्र में आ रहे हैं। अपने साथ वे अनुभवों का नया संसार भी ला रहे हैं। यह हमारे साहित्य के लिए काफी उत्साहवर्द्धक संकेत है। जो वर्चस्व के सबसे अधिक शिकार रहे, भौतिक और मानसिक दोनों स्तरों पर जिनके अस्तित्व पर सबसे अधिक कुठाराघात हुए, और यहाँ तक कि जिनके अस्तित्व को ही नकार दिया गया, जब वे समुदाय अस्तित्व के प्रश्न से जूझेंगे, 'क्षितिज-पटी को उठा ब्रह्माण्ड-विवर की ओर बढ़ेंगे', (वाक्यांश श्री जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' से साभार) तो स्वाभाविक है कि एक नया संसार, अब तक का अजाना संसार उद्‌घाटित होगा, भाषा और शिल्प की दीवारें भी टूटेंगी। अफ्रीकी साहित्य और अमेरिका के अफ्रीकी-अमेरिकन साहित्य में भी हम इसका दर्शन कर चुके हैं।

बहरहाल, साहित्य और विचारधारा का प्रश्न 1930 के दशक में जिन ऐतिहासिक स्थितियों में सामने आया था, वह अब प्रासंगिक नहीं रह गया है। एक तो हिन्दी साहित्य समाजवादी विचारधारा को भी अपने ढंग से कबका आत्मसात कर चुका है, और दूसरे, तब से ऐतिहासिक स्थितियां भी काफी बदल चुकी हैं। सूचना और संचार क्रांतियों के बाद अस्तित्व का प्रश्न आज नए रूप में सामने आ रहा है। पुराने रूपों की मौजूदगी के बावजूद वर्चस्व का स्वरूप काफी बदल गया है और साहित्य पर उसका दबाव भी स्पष्टत: महसूस किया जा रहा है। साहित्य और विचारधारा के प्रश्न को आज की चुनौतियों के साथ जोड़ना जरूरी है। पुराने चौखटे में विमर्श चलाते जाने की आज क्या तुक?

इलेक्ट्रानिक क्रांति मनुष्य के भौतिक और मानसिक अस्तित्व की स्थितियों में काफी तेजी से परिवर्तन ला रही है। अगले कुछ वर्षों में पंचायत तक इंटरनेट से जुड़ जाएंगे। एक तरफ जहां वर्चस्व-जनित बर्बरता तमाम ज्ञान-विज्ञान, सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलनों के बावजूद अपने चरम पर जा पहुँची है, वहीं दूसरी तरफ निरन्तर परिष्कृत होते वैज्ञानिक उपकरणों से मनुष्य अपना प्रतिरूप बनाने में जुटा है। पुनरुत्पादन की शक्ति तो पूरी प्रकृति में व्याप्त है और मनुष्य में यह शक्ति संतानोत्पादन के रूप में सामने आती है। लेकिन मनुष्य प्रकृति-प्रदत्त संतानोत्पादन की शक्ति के जरिए अपना पुनरुत्पादन करने के साथ-साथ वैज्ञानिक प्रविधि के जरिए सचेत रूप से अपना पुनरुत्पादक करना चाहता है। ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों का मशीन के जरिए विस्थापन करने के बाद अब वह मस्तिष्क का विस्थापन करने में लगा है। मस्तिष्क का बहुत सारा काम अब कंप्यूटरों के हवाले किया जा चुका है। जेनेटिक इंजीनियरिंग और क्लोनिंग प्रविधि पर काफी तेजी से अनुसंधान चल रहा है। वर्चुअल (माया) रीयल (यथार्थ) को विस्थापित करता जा रहा है। और इसकी तार्किक परिणति होगी वर्चुअल मनुष्य द्वारा यथार्थ मनुष्य का विस्थापन। बहरहाल, अपने कमरे में बन्द वैज्ञानिक उपकरणों से घिरा, परिवार तथा समाज से बस औपचारिक रूप से जुड़ा अथवा न भी जुड़ा, अपने कम्प्यूटर पर अपने

वर्चुअल विश्व में रमण करता, वर्चुअल शॉपिंग करता, वर्चुअल प्रेम और मौज-मस्ती करता व्यक्ति क्या सचमुच यथार्थ मनुष्य रह गया है? या वह भी वर्चुअल मनुष्य बन गया है? यथार्थ परिवार और यथार्थ समाज का स्थान भी धीरे-धीरे वर्चुअल नेट परिवार और वर्चुअल नेट समाज लेता जा रहा है तथा सामाजिक सम्बन्धों का स्थान नेटवर्किंग, हेगेल की शैली में कहें तो जो भी यथार्थ है, वह वर्चुअल है और जो भी वर्चुअल है, वह यथार्थ है। वर्चुअल और यथार्थ का एक दूसरे में रूपान्तरण मनुष्य के अस्तित्व के संदर्भ में क्या मायने रखता है? सवाल फिर सिर्फ नकार का नहीं है, वैज्ञानिक प्रविधि की उपलब्धियां गिनाने की कोई जरूरत नहीं, वे जग-जाहिर हैं। लेकिन हमारे अस्तित्व की स्थितियों में हो रहे इन परिवर्तनों को किस तरह किस रूप में स्वीकार किया जाए? उनका कैसे संस्कार किया जाए? आज के साहित्य के समक्ष यह है वास्तविक चुनौती।

बहरहाल, वर्चुअल अनुभूति और वर्चुअल साहित्य इस चुनौती का जवाब नहीं हो सकता। वर्चुअल साहित्य का एक रूप है लिट्-रीमिक्स (इंटरनेट पर शब्दों की इतनी रेलमपेल है कि कैपिटल अक्षरों में लिखना तो नेटिकेट के तहत मना ही है, शब्दों को भी जितना छोटा कर लिखा जाए उतना ही अच्छा।) गानों की रीमिक्सिंग की तरह लिटरेचर को रीमिक्सिंग भी यथार्थ साहित्यिक कृतियों की रीमिक्सिंग है।

पॉप साहित्य विचारधारा के अधिक नजदीक होता है क्योंकि उसके केन्द्र में अनुभूति, स्वीकृति और संस्कार के बजाए फार्मूला अथवा कुछेक फार्मूलों का समूह, बाजार की मांग और बिक्री की तकनीक होती है। लिट-रीमिक्स पॉप साहित्य का ही नया रूप है। पता नहीं किसी प्रकाशन कम्पनी ने इंटरनेट पर लिट-रीमिक्स का अपना वेबसाइट अब तक खोला है या नहीं, लेकिन हाल की कुछ काफी चर्चित भारतीय-अंग्रेजी साहित्यिक कृतियां मेरी नजर में लिट-रीमिक्स का प्रयास नजर आती हैं। हिन्दी की कुछ हाल की कृतियों में भी यह प्रभाव देखा जा सकता है। यह री-मिक्स बाजार की मांग के अनुसार तुरत तैयार की जा सकती है, यह एक या एक से अधिक साहित्यिक कृतियों की,यहां तक कि अन्तर-भाषाई रीमिक्सिंग भी हो सकती है तथा इसकी प्रचुर व्यावसायिक संभावनाएं तो हैं ही। इस तरह की रीमिक्सिंग का नया साफ्टवेयर भी तैयार किया जा सकता है। इस तरह आप मार्क ट्वेन की 'एकलबरी फिन', हार्पर ली की 'टु किल ए मॉकिंग बर्ड', डी॰ एच॰ लारेंस की 'लेडी चैटरलीज लवर', थोड़ी जेम्स जॉयस की शैली और कुछ अखबारी टिप्पणियों की रीमिक्सिंग कर एक नॉवेल तैयार कर सकते हैं और प्रायोजित ढंग से वह महान साहित्यिक कृति के रूप में बेची जा सकती है। सूचना और संचार की तकनीक का उपयोग कर ऐसे प्रकाशन को एक यादगार घटना का रूप दिया जा सकता है।

वास्तविक स्थिति कुछ और गंभीर है। वर्चुअल खुद एक विचारधारा बनता जा रहा है, और वह यथार्थ का, अस्तित्व का पूरा स्पेस हथियाता जा रहा है। वर्चुअल का वर्चस्व! यथार्थ पर माया का वर्चस्व—यह है साहित्य की आज की चुनौती। लेकिन क्या यह शब्द कुछ सुना-सुना नहीं लगता?

❑